अज्ञेय

आँगन के पार द्वार

-8329
C आ

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

80

'आँगन के पार द्वार' भीतर की ओर जितना खुलता है, उतना ही बाहर की ओर। अज्ञेय की अन्तःसलिला का यह सब से स्फीत और श्रद्धापूत प्रवाह है। पर इस में केवल एक उछली मछली की जिजीविषा भर नहीं, इस में है दाता सागर का, धरती का, और है उस दाता का खुलापन। इस संग्रह की अन्तिम कविता 'असाध्य वीणा' जो अज्ञेय की अब तक की सब से लम्बी कविता है, इस अन्तस् और बाह्य जगत् की एकाकारता का सब से सजीव चित्र है।

यदि 'चक्रान्त शिला' की पन्द्रह कविताओं में मौन के माध्यम से विराट् से जुड़ने की प्रक्रिया है और वात्सल्यभाव से सहलाती एक दीठ है तो उस के बाद वाली कविताओं में परिपक्व और परिष्कृत चित्र का विनय और अर्पण का उत्कर्ष भी।

[शेष दूसरे फ़्लैप पर]

आँगन के पार द्वार

[१९५९–'६१ की कविताएँ]

*

'अज्ञेय'

भारतीय राजदूतावास
काठमाडौं

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : १४६

सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

चतुर्थ संस्करण : अक्तूबर १९७१

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय
9566

आँगन के पार द्वार

(कविता)

'अज्ञेय'

©
प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

o o o o

AANGAN KE PAR DWAR

(Poems)

'AJNEYA'

Published by : BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6
(*Phone : 272582. Gram :* 'JNANPITH', Delhi)

Price
Rs 5.00

मूल्य : पाँच रुपये

अनुक्रम

● अन्तःसलिला		५
सरस्वती-पुत्र	....	७
बना दे, चितेरे	....	८
भीतर जागा दाता	....	१०
अन्धकार में दीप	....	१२
पास और दूर	....	१३
पहचान	....	१४
झील का किनारा	....	१५
अन्तरंग चेहरा	....	१६
परायी राहें	....	१७
पलकों का कँपना	....	१८
एक उदास साँझ	....	१९
अनुभव-परिपक्व	....	२०
सूनी सी साँझ एक	....	२१
एक प्रश्न	....	२३
अँधेरे अकेले घर में	....	२४
चिड़िया ने ही कहा	....	२६
अन्तःसलिला	....	२८
साँस का पुतला	....	३०
● चक्रान्त शिला		३१
● असाध्य वीणा		६५
प्रथम पंक्तियों की सूची	....	७९

अन्तःसलिला

सरस्वती-पुत्र

मन्दिर के भीतर वे सब धुले-पुँछे उघड़े-अवलिप्त,
खुले गले से
मुखर स्वरों में
अति-प्रगल्भ
गाते जाते थे राम-नाम।
भीतर सब गूँगे, बहरे, अर्थहीन जल्पक,
निर्बोध, अयाने, नाटे,
पर बाहर जितने बच्चे उतने ही बड़बोले।

बाहर वह
खोया-पाया, मैला-उजला
दिन-दिन होता जाता वयस्क,
दिन-दिन धुँधलाती आँखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था;
पहचान रहा था रूप,
पा रहा वाणी और बूझता शब्द,
पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था :
दिन-दिन पर उस की घिग्घी बँधती जाती थी।

बना दे, चितेरे

बना दे, चितेरे,
मेरे लिए एक चित्र बना दे।

पहले सागर आँक :
विस्तीर्ण प्रगाढ़ नीला,
ऊपर हलचल से भरा,
पवन के थपेड़ों से आहत,
शत-शत तरंगों से उद्वेलित,
फेनोर्मियों से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने में
अपार शोभा लिये हुए,
चंचल, उत्सृष्ट,
—जैसे जीवन।
हाँ, पहले सागर आँक :
नीचे अगाध, अथाह,
असंख्य दबावों, तनावों, खींचों और मरोड़ों को
अपनी द्रव एकरूपता में समेटे हुए,
असंख्य गतियों और प्रवाहों को
अपने अखण्ड स्थैर्य में समाहित किये हुए,
स्वायत्त,
अचंचल,
—जैसे जीवन....
सागर आँक कर फिर आँक एक उछली हुई मछली :
ऊपर अधर में
जहाँ ऊपर भी अगाध नीलिमा है
तरंगोर्मियाँ हैं, हलचल और टूटन है,
द्रव है, दबाव है,

और उसे घेरे हुए वह अविकल सूक्ष्मता है
जिस में सब आन्दोलन स्थिर और समाहित होते हैं;
ऊपर अधर में
हवा का एक बुलबुला भर पीने को
उछली हुई मछली
जिस की मरोड़ी हुई देह-वल्ली में
उस की जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।
जैसे तडिल्लता में दो बादलों के बीच के खिचाव सब
कौंध जाते हैं—
वज्र अनजाने, अप्रसूत, असन्धीत सब
गल जाते हैं।

उस प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को—
उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते ही
जिस में वह जनमी है, जियी है, पली है, जियेगी,
उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
विद्युल्लता की कौंध की तरह
अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली।

बना दे, चितेरे,
यह चित्र मेरे लिए आँक दे।
मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी
उस अन्तहीन उदीषा को
तू अन्तहीन काल के लिए फलक पर टाँक दे—
क्योंकि यह माँग मेरी, मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
अन्तहीन काल तक मुझे खींचता रहे :
मैं उदग्र ही बना रहूँ कि
—जाने कब—
वह मुझे सोख ले।

भीतर जागा दाता

मतियाया
सागर लहराया ।
तरंग की पंखयुक्त वीणा पर
पवन ने भर उमंग से गाया ।
फेन-झालर दार मखमली चादर पर मचलती
किरण-अप्सराएँ भारहीन पैरों से थिरकीं—
जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती ।
दूर धुँधला किनारा
झूम-झूम आया, डगमगाया किया ।
मेरे भीतर जागा
दाता :
बोला :
लो, यह सागर मैं ने तुम्हें दिया

हरियाली बिछ गयी तराई पर,
घाटी की पगडण्डी
लजायी और ओट हुई—
पर चंचला रह न सकी, फिर उझकी और झाँक गयी ।
छरहरे पेड़ की नयी रँगीली फुनगी
आकाश के भाल पर जय-तिलक आँक गयी ।
गेहूँ की हरी बालियों में से
कभी राई की उजली, कभी सरसों की पीली फूल-ज्योत्स्ना
दिप गयी,
कभी लाली पोस्ते की सहसा चौंका गयी—
कभी लघु नीलिमा तीसी की चमकी और छिप गयी ।

मेरे भीतर फिर जागा
दाता :
और मैं ने फिर नीरव संकल्प किया :
लो, यह हरी-भरी धरती—यह सवत्सा कामधेनु—मैं ने तुम्हें दी :
आकाश भी तुम्हें दिया :
यह बौर, यह अंकुर, ये रंग, ये फूल, ये कोंपलें,
ये दूधिया कनो से भरी बालियाँ,
ये मैं ने तुम्हें दीं :
आँकी-बाँकी रेखा यह,
मेड़ों पर छाग-छौने ये किलोलते,
यह तलैया, गलियारा यह,
सारसों के जोड़े, मौन खड़े पर तोलते—
यह रूप जो केवल मैं ने देखा,
यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैं ने जिया,
सब तुम्हें दिया।

एक स्मृति से मन पूत हो आया।
एक श्रद्धा से आहूत प्राणों ने गाया।
एक प्यार का ज्वार दुर्निवार बढ़ आया।
मैं डूबा नहीं, उमड़ा-उतराया,
फिर भीतर
दाता खिल आया।
हँसा, हँस कर तुम्हें बुलाया।
लो, यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी,
यह आहूत, स्पर्श-पूत भाव
यह मैं, यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार, यह प्लवन,
यह प्यार, यह अडूब उमड़ना—
सब तुम्हें दिया।
सब
तुम्हें
दिया।

अन्धकार में दीप

अन्धकार था :
सब कुछ जाना
पहचाना था
छुआ कभी न गया हो, फिर भी
सब-कुछ की संयति थी,
संहृति थी,
स्वीकृति थी।

दिया जलाया :
अर्थहीन आकारों की यह
अर्थहीनतर भीड़—
निरर्थकता का संकुल—
निर्जल पारावार न-कारों का
यह उमड़ा आया।

कहाँ गया वह
जिस ने सब-कुछ को
ऋत के ढाँचे में था बैठाया ?

पास और दूर

जो पास रहे
वे ही तो सब से दूर रहे :
प्यार से बार-बार
जिन सब ने उठ-उठ हाथ और झुक-झुक कर पैर गहे,
वे ही दयालु, वत्सल, स्नेही तो
सब से क्रूर रहे।

जो चले गये
ठुकरा कर हड्डी-पसली तोड़ गये।
पर जो मिट्टी
उन के पग रोष-भरे खूँदते रहे,
फिर अवहेला से रौंद गये,
उस को वे ही अनजाने में नयी खाद दे गोड़ गये :
उस में वे ही एक अनोखा अंकुर रोप गये।
—जो चले गये,
जो छोड़ गये,
जो जड़ें काट, मिट्टी उगाट, चुन-चुन कर डाल मरोड़ गये
वे नहर खोद कर अनायास
सागर से सागर जोड़ गये।
मिटा गये अस्तित्व,
किन्तु वे
जीवन मुझ को सौंप गये।

पहचान

तुम
वही थीं :
किन्तु ढलती धूप का कुछ खेल था—
ढलती उमर के दाग़ उस ने धो दिये थे।
भूल थी
पर
बन गयी पहचान—
मैं भी स्मरण से
नहा आया।

झील का किनारा

झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाये सन्नाटे का
एक क्षण हमारा।
वैसा सूर्यास्त फिर नहीं दिखा
वैसी क्षितिज पर सहमी सी बिजली
वैसी कोई उत्ताल लहर और नहीं आयी
न वैसी मदिर बयार कभी चली।

वैसी कोई शक्ति अकल्पित और अयाचित
फिर हम पर नहीं छायी।
वैसा कुछ और छली काल ने
हमारे सटे हुए लिलारों पर नहीं लिखा।

वैसा अभिसंचित, अभिमन्त्रित,
सघनतम संगोपन कल्पान्त
दूसरा हम ने नहीं जिया।
वैसी शीतल अनल-शिखा
न फिर जली, न चिर-काल पली,
न हम से सँभली।

या कि अपने को उतना वैसा
हमीं ने दुबारा फिर नहीं दिया?

अन्तरंग चेहरा

अरे ये उपस्थित
घेरते, घूरते, टेरते
लोग—लोग—लोग—लोग
जिन्हें पर विधाता ने
मेरे लिए दिया नहीं
निजी एक अन्तरंग चेहरा।

अनुपस्थित केवल वे
हेरते, अगोरते
लोचन दो
निहित निजीपन जिन में
सब चेहरों का,
ठहरा।

वातायन
संसृति से मेरे राग-बन्ध के।
लोचन दो—
सम्पृक्ति निविड की
स्फटिक-विमल वापियाँ
अचंचल :
जल
गहरा—गहरा—गहरा !

परायी राहें

दूर सागर पार
पराये देश की अनजानी राहें।
पर शीलवान् तरुओं की
गुरु, उदार,
पहचानी हुई छाँहें।
        छनी हुई धूप की सुनहली कनी को बीन,
        तिनके की लघु अनी मनके सी बींध, गूँथ, फेरती सुमिरनी,
पूछ बैठी :
कहाँ, पर कहाँ वे ममतामयी बाँहें ?

भारतीय राजदूतावास
काठमाडौं

पलकों का कँपना

तुम्हारी पलकों का कँपना ।
तनिक सा चमक खुलना, फिर झँपना ।
तुम्हारी पलकों का कँपना ।
मानो दीखा तुम्हें लजीली किसी कली के
खिलने का सपना ।
तुम्हारी पलकों का कँपना ।
सपने की एक किरण मुझ को दो ना,
है मेरा इष्ट तुम्हारे उस सपने का कण होना ।
और सब समय पराया है ।
बस उतना क्षण अपना ।
तुम्हारी पलकों का कँपना ।

एक उदास साँझ

सूने गलियारों की उदासी ।
गोखों में पीली मन्द उजास
स्वयं मूर्छा सी ।
थकी हारी साँसें, बासी ।

चिमटी से जकड़ी सी नभ की थिगली में
तारों की बिसरी सुइयाँ सी ।
यादें : अपने को टटोलतीं
सहमी, ठिठकी, प्यासी ।

हाँ, कोई आ कर निश्चय दिया जलायेगा ।
दिपता-झिपता लुब्धक सूने में कभी उभर आयेगा ।
नंगी काली डाली पर नीरव
धुँधला उजला पंछी मँडरायेगा ।
हाँ, साँसों ही साँसों से रीत गया
अन्तर भी भर आयेगा ।
पर वह जो बीत गया—जो नहीं रहा—
वह कैसे फिर आयेगा ?

अनुभव-परिपक्व

माँ हम नहीं मानते—
अगली दीवाली पर मेले से
हम वह गाने वाला टीन का लट्टू
लेंगे ही लेंगे—
नहीं, हम नहीं जानते—
हम कुछ नहीं सुनेंगे ।

—कल गुड़ियों का मेला है, माँ ।
मुझे एक दो पैसे वाली
काग़ज़ की फिरकी तो ले देना ।
अच्छा मैं लट्टू नहीं माँगता—
तुम बस दो पैसे दे देना ।

—अच्छा, माँ, मुझे खाली मिट्टी दे दो—
मैं कुछ नहीं मागूँगा :
मेले जाने का हठ नहीं ठानूंगा ।
जो कहोगी मानूंगा ।

सूनी सी साँझ एक

सूनी सी साँझ एक
दबे-पाँव मेरे कमरे में आयी थी।
मुझ को भी वहाँ देख
थोड़ा सकुचायी थी।
तभी मेरे मन में यह बात आयी थी
कि ठीक है, यह अच्छी है,
उदास है, पर सच्ची है :
इसी की साँवली छाँह में कुछ देर रहूँगा
इसी की साँस की लहर पर बहूँगा।
चुपचाप इसी के नीरव तलुवों की
लाल छाप देखता
कुछ नहीं कहूँगा।

पर उस सलोनी के पीछे-पीछे
घुस आयीं बिजली की बत्तियाँ
बेहया धड़-धड़ गाड़ियों की :
मानुषों की खड़ी-खड़ी बोलियाँ।
वह रुकी तो नहीं, आयी तो आ गयी,
पर साथ-साथ मुरझा गयी।
उस की पहले ही मद्धिम अरुणाली पर
घुटन की एक स्याही सी छा गयी।
—सोचा था कुछ नहीं कहूँगा :
कुछ नहीं कहा :
पर मेरे उस भाव का, संकल्प का
बस, इतना ही रहा।

यह नहीं वह न कहना था
जो कि उस को उदास पर सच्ची लुनाई में बहना था
जो अपने ही अपने न रहने को
तद्गत हो सहना था।
यह तो बस रुँध कर चुप रहना था।

यों न जाने कब कहाँ
वह साँझ
ओझल हो गयी।
और मेरे लिए यह
सूने न रहने की
रीते न होने की
बाँझ अनुकम्पा समाज को
कितनी बोझल हो गयी !

एक प्रश्न

जिन आँखों को तुम ने गहरा बतलाया था
उन से भर-भर मैं ने
रूप तुम्हारा पिया।
जिस काया को तुम रहस्यार्थ से भरी बताते थे
उस के रोम-रोम से मैं ने
गान तुम्हारा किया!

जो प्यार—कहा था तुम ने ही—है सार-तत्त्व जीवन का,
वही अनामय, निर्विकार, चिर सत्त्व
मैं ने तुम्हें दिया।

यों
तुम से पायी ज्योति-शिखा के शुभ्र वृत्त में
मैं ने अपना
पल-पल जलता जीवन जिया:
पर तुम ने—तुम, गुरु, सखा, देवता!—
तुम ने क्या किया!

अँधेरे अकेले घर में

अँधेरे अकेले घर में
अँधेरी अकेली रात।
तुम्हीं से लुक-छिप कर
आज न जाने कितने दिन बाद
तुम से मेरी मुलाक़ात।
और इस अकेले सन्नाटे में
उठती है रह-रह कर
एक टीस सी अकस्मात्
कि कहने को तुम्हें इस
इतने घने अकेले में
मेरे पास कुछ भी नहीं है बात।

क्यों नहीं पहले कभी मैं इतना गूँगा हुआ ?
क्यों नहीं प्यार के सुध-भूले क्षणों में
मुझे इस तीखे ज्ञान ने छुआ
कि खो देना तो देना नहीं होता—
भूल जाना और, उत्सर्ग है और बात :
कि जब तक वाणी हारी नहीं
और वह हार मैं ने अपने में पूरी स्वीकारी नहीं,
अपनी भावना, संवेदना भी वारी नहीं—
तब तक वह प्यार भी
निरा संस्कार है, संस्कारी नहीं।
हाय, कितनी झीनी ओट में

झरते रहे आलोक के सोते अवदात—
और मुझे घेरे रही
अँधेरे अकेले घर में
अँधेरी अकेली रात ।

चिड़िया ने ही कहा

मैं ने कहा
कि 'चिड़िया' :
मैं देखता रहा—
चिड़िया चिड़िया ही रही।
फिर-फिर देखा
फिर-फिर बोला,
'चिड़िया'।
चिड़िया चिड़िया ही रही।

फिर—जाने कब—
मैं ने देखा नहीं :
भूल गया था मैं क्षण भर को तकना !—
मैं कुछ बोला नहीं—
खो गयी थी क्षण भर को स्तब्ध-चकित सी वाणी,
शब्द गये थे बिखर, फटी छीमी से जैसे
फट कर खो जाते हैं बीज
अनयना स्वहोना धरती में
होने को अंकुरित अजाने—
तब—जाने कब—
चिड़िया ने ही कहा
कि 'चिड़िया'।
चिड़िया ने ही देखा
वह चिड़िया थी।
चिड़िया

चिड़िया नहीं रही है तब से :
मैं भी नहीं रहा मैं।
कवि हूँ !
कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा।

कहीं बड़े गहरे में
सभी स्वैर हैं नियम,
सभी सर्जन केवल
आँचल पसार कर लेना।

अन्तःसलिला

रेत का विस्तार
नदी जिस में खो गयी
कृश धार :
झरा मेरे आँसुओं का भार
—मेरा दुख-धन,
मेरे समीप अगाध पारावार—
उस ने सोख सहसा लिया
जैसे लूट ले बटमार।
और फिर आक्षितिज
लहरीला मगर बेटूट
सूखी रेत का विस्तार—
नदी जिस में खो गयी
कृश-धार।

किन्तु जब-जब जहाँ भी जिस ने कुरेदा
नमी पायी : और खोदा—
हुआ रस-संचार :
रिसता हुआ गड्ढा भर गया।
यों अजाना पान्थ
जो भी क्लान्त आया, रुका ले कर आस,
स्वल्पायास से ही शान्त
अपनी प्यास
इस से कर गया :
खींच लम्बी साँस
पार उतर गया।

अरे, अन्तःसलिल है रेत :
अनगिनत पैरों तले रौंदी हुई अविराम
फिर भी घाव अपने आप भरती,
पड़ी सज्जाहीन,
धूसर-गौर,
निरीह और उदार !

साँस का पुतला

वासना को बाँधने को
तूमड़ी जो स्वर-तार बिछाती है—
आह ! उसी में कैसी एकान्त निविड
वासना थरथराती है !
तभी तो साँप की कुण्डली हिलती नहीं—
फन डोलता है ।

कभी रात मुझे घेरती है,
कभी मैं दिन को टेरता हूँ,
कभी एक प्रभा मुझे हेरती है,
कभी मैं प्रकाश-कण बिखेरता हूँ ।
कैसे पहचानूं कब प्राण-स्वर मुखर है,
कब मन बोलता है ?

साँस का पुतला हूँ मैं :
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ :
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ ।
काल की दुर्वह गदा को एक
कौतुक भरा बाल क्षण तोलता है !

चक्रान्त शिला

१ :

यह महाशून्य का शिविर,
असीम, छा रहा ऊपर :
नीचे यह महामौन की सरिता
दिग्विहीन बहती है।

यह बीच-अधर, मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने ही से
खुलती रहती है।

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है।

मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के खड़ा किनारे पाता हूँ :
मैं, मौन-मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच, छन्द-मुक्त को
गाता हूँ।

२ :

वन में एक झरना बहता है
एक नर-कोकिल गाता है
वृक्षों में एक मर्मर
कोंपलों को सिहराता है,
एक अदृश्य क्रम नीचे ही नीचे
झरे पत्तों को पचाता है।
अंकुर उगाता है!

मैं सोते के साथ बहता हूँ,
पक्षी के साथ गाता हूँ,
वृक्षों के कोंपलों के साथ थरथराता हूँ,
और उसी अदृश्य क्रम में, भीतर ही भीतर
झरे पत्तों के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता हूँ।

पर सब से अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ—
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोड़ता है मुझ को विराट् से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सब को समोता है।

मौन का ही सूत्र
किसी अर्थ को मिटाये बिना
सारे शब्द क्रमागत
सुमिरनी में पिरोता है।

३ :

सुनता हूँ गान के स्वर।
बहुत से द्रुत, बाल-चपल, तार,
एक भव्य, मन्द्र गम्भीर, बलवती तान के स्वर।

मैं वन में हूँ।
सब ओर घना सन्नाटा छाया है।
तब क्वचित्
कहीं मेरे भीतर ही यह कोई संगीत-वृन्द आया है।
वन-खण्डी की दिशा-दिशा से
गूँज-गूँज कर आते हैं आह्वान के स्वर।
भीतर अपनी शिरा-शिरा से
उठते हैं आह्लाद और सम्मान के स्वर।
पीछे, अध-डूबे, अवसान के स्वर।
फिर सब से नीचे, पीछे, भीतर, ऊपर,
एक सहस आलोक-विद्ध उन्मेष,
चिरन्तन प्राण के स्वर।

सुनता हूँ गान के स्वर
बहुत से द्रुत, बाल-चपल, तार;
एक भव्य, मन्द्र गम्भीर, बलवती तान के स्वर।

४ :

किरण जब मुझ पर झरी
मैं ने कहा :
मैं वज्र कठोर हूँ—
पत्थर सनातन ।

किरण बोली :
भला ? ऐसा !
तुम्हीं को तो खोजती थी मैं :
तुम्हीं से मन्दिर गढ़ूँगी
तुम्हारे अन्तःकरण से
तेज की प्रतिमा उकेरूँगी ।

स्तब्ध मुझ को
किरण ने
अनुराग से दुलरा लिया ।

५ :

एक चिकना मौन
जिस में मुखर-तपती वासनाएँ
दाह खोती
लीन होती हैं।
        उसी में रवहीन
        तेरा
        गूँजता है छन्द :
        ऋत विज्ञप्त होता है।

एक काले घोल की सी रात
जिस में रूप, प्रतिमा, मूर्तियाँ
सब पिघल जातीं
ओट पातीं
एक स्वप्नातीत, रूपातीत
पुनीत
गहरी नींद की।
        उसी में से तू
        बढ़ा कर हाथ
        सहसा खींच लेता—
        गले मिलता है।

६ :

रात में जागा
अन्धकार की सिरकी के पीछे से
मुझे लगा, मैं सहसा
सुन पाया सन्नाटे की कनबतियाँ
धीमी, रहस, सुरीली,
परम गीतिमय ।

और गीत वह मुझ से बोला, दुर्निवार,
अरे, तुम अभी तक नहीं जागे,
और यह मुक्त स्रोत सा सभी ओर बह चला उजाला !
अरे, अभागे—
कितनी बार भरा, अनदेखे,
छलक-छलक बह गया तुम्हारा प्याला ?

मैं ने उठ कर खोल दिया वातायन—
और दुबारा चौंका :
वह सन्नाटा नहीं—
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था ।
इसी बीच फिर
बाढ़ उषा की आयी ।

७ :

हवा कहीं से उठी, बही—
ऊपर ही ऊपर चली गयी।
पथ सोया ही रहा :
किनारे के क्षुप चौंके नहीं
न काँपी डाल, न पत्ती कोई दरकी।
अंग लगी लघु ओस-बूँद भी एक न ढरकी।

वन-खण्डी में सधे खड़े पर
अपनी ऊँचाई में खोये से
चीड़
जाग कर सिहर उठे
सनसना गये।
एकस्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के
गा गये।

•

ऊपर ही ऊपर
जो हवा ने गाया,
देवदारु ने दुहराया,
जो हिम-चोटियों पर झलका,
जो साँझ के आकाश से छलका—
वह किस ने पाया
जिस ने आयत्त करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया ?

आह ! वह तो मेरे
दे दिये गये हृदय में उतरा,
मेरे स्वीकारी आँसू में ढलका :
वह अनजाना अनपहचाना ही आया ।
वह इन सब के—और मेरे—माध्यम से
अपने में अपने को लाया,
अपने में समाया ।

८ :

जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है
उतना ही मैं प्रेत हूँ।
जितना रूपाकार-सारमय दीख रहा हूँ
रेत हूँ।

फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, उतना मैं खेत हूँ।

डा. डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय
9566

९ :

जो बहुत तरसा-तरसा कर
मेघ से बरसा
हमें हरसाता हुआ,
—माटी में रीत गया।

आह ! जो हमें सरसाता है
वह छिपा हुआ पानी है
हमारा इस जानी पहचानी
माटी के नीचे का।
—रीतता नहीं
बीतता नहीं।

१० :

धुन्ध से ढँकी हुई
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
कितनी लघु अंजली हमारी ।

कुहरे में जहाँ-तहाँ लहराती सी कोई
छाया जब-तब दिख जाती है,
उत्कण्ठा की ओक वही द्रव भर ओठों तक लाती है—
बिजली की जलती रेखा सी
कण्ठ चीरती छाती तक खिंच जाती है ।
फिर और प्यास तरसाती है,
फिर दीठ
धुन्ध में फाँक खोजने को टकटकी लगाती है ।
आतुरता हमें भुलाती है
        कितनी लघु अंजली हमारी,
        कितनी गहरी यह धुन्ध-ढँकी वापिका तुम्हारी

फिर भरते हैं ओक,
लहर का वृत्त फैल कर हो जाता है ओझल,
इसी भाँति युग-कल्प शिलित कर गये हमारे पल-पल
—वापी को जो धुन्ध ढँके है, छा लेती है
गिर-गह्वर भी अविरल ।
किन्तु एक दिन खुल जायेगा
स्फटिक-मुकुर सा निर्मल वापी का तल,
आशा का आग्रह हमें किये है बेकल—
        धुन्ध-ढँकी
        कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
        कितनी लघु अंजली हमारी ।

किन्तु नहीं क्या यही धुन्ध है सदावर्त
जिस में नीरन्ध्र तुम्हारी करुणा

बँटती रहती है दिन-याम ?
कभी झांक जाने वाली छाया ही
अन्तिम भाषा-सम्भव-नाम ?
करुणा-धाम !
बीज-मन्त्र यह, सार-सूत्र यह, गहराई का एक यही परिमाण,
हमारा यही प्रणाम !

धुन्ध ढँकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी—
लघु अंजली हमारी ।

११ :

तू नहीं कहेगा ?
मैं फिर भी सुन ही लूँगा ।
किरण भोर की पहली भोलेपन से बतलावेगी,
झरना शिशु सा अनजान उसे दुहरावेगा,
घोंघा गीली पीली रेती पर धीरे-धीरे आंकेगा,
पत्तों का मर्मर कनब्रतियों में जहाँ-तहाँ फैलावेगा,
पंछी की तीखी कूक फरहरे-मढ़े शल्य सी आसमान पर टांकेगी,
फिर दिन सहसा खुल कर उस को सब पर प्रकटावेगा,
निर्मम प्रकाश से सब कुछ पर सुलझा सब कुछ लिख जावेगा ।

मैं गुन लूँगा ।
तू नहीं कहेगा ?
आस्था है,
नहीं अनमना हूँगा तब—
मैं सुन लूँगा ।

१२ :

अरी ओ आत्मा री,
कन्या भोली क्वाँरी
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं ।

अब से तेरा कर एक वही गह पायेगा—
सम्भ्रम-अवगुण्ठित अंगों को
उस का ही मृदुतर कौतूहल
प्रकाश की किरण छुआयेगा ।
तुझ से रहस्य की बात निभृत में
एक वही कर पायेगा ।
तू उतना, वैसा समझेगी वह जैसा जो समझायेगा ।

तेरा वह प्राप्य, वरद कर उस का तुझ पर जो बरसायेगा ।
उद्देश्य, उसे जो भावे; लक्ष्य, वही जिस ओर मोड़ दे वह—
तेरा पथ मुड़-मुड़ कर सीधा उस तक ही जायेगा ।
तू अपनी भी उतनी ही होगी जितना वह अपनायेगा ।
ओ आत्मा री
तू गयी वरी
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं

हाँ, छूट चला यह घर, उपवन,
परिचित-परिगण, में भी, आत्मीय सभी,
पर खेद न कर, हम थे इतने तक के अपने—
हम रचे ही गये थे यथार्थ आधे, आधे सपने—
आँखें भर कर ले फेर, और भर अंजलि दे बिखेर
पीछे को फूल :
—स्मरण के, श्रद्धा के, कृतज्ञता के, सब के—
हम नहीं पूछते, जो हो, बस, मत हो परिताप कभी ।

जा आत्मा, जा
कन्या—वधुका—
उस की अनुगा,
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ,
लक्ष्य, अन्न-जल, पालक, पति,
आलोक, धर्म :
तुझ को वह एक मात्र सरसायेगा ।

ओ आत्मा री
तू गयी वरी,
ओ सम्पृक्ता,
ओ परिणीता :
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरो रची गयीं ।

१३ :

अकेली और अकेलो ।
प्रियतम धीर, समुद सब सहने वाला;
मनचली सहेली ।

अकेला :
वह तेजोमय है जहाँ,
दीठ बेबस झुक जाती है;
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूँज
वहाँ चुक जाती है ।
शीतलता उस की एक छुअन भर से
सारे रोमांच शिलित कर देती है,
मन के द्रुत रथ की अविश्रान्त गति
कभी नहीं उस का पदनख तक परिक्रान्त कर पाती है ।
वह
इस लिए
अकेला ।

अकेली :
जो कहना है, वह भाषा नहीं माँगता ।
इस लिए किसी की साक्षी नहीं माँगता,
जो सुनना है, वह जहाँ झरेगा तेज-भस्म कर डालेगा—
तब कैसे कोई उसे झेलने के हित पर से साझा पालेगा ?
वह
इस लिए निरस्त्र, निर्वसन, निस्साधन, निरीह,
इस लिए
अकेली ।

१४ :

वह धीरे-धीरे आया
सधे पैरों से चला गया।

किसी ने उस के छुआ नहीं।
उस असंग को अटकाने को
कोई कर न उठा।

उस की आँखें रहीं देखती सब कुछ
सब कुछ को वात्सल्य-भाव से सहलाती, असीसती,
पर ऐसे, कि अयाना है सब कुछ, शिशुवत् अबोध।
अटकी नहीं दीठ वह,
जैसे तृण-तरु को छूती प्रभात की धूप
दीठ भी आगे चली गयी।

आगे, दूर, पार, आगे को,
जहाँ और भी एक असंग सधा बैठा है,
जिस की दीठ देखती सब कुछ,
सब कुछ को सहलाती, दुलराती, असीसती,
—उस को भी, शिशुवत् अबोध को मानो—
किन्तु अटकती नहीं, चली जाती है आगे।

आगे ?
हाँ, आगे, पर
उस से आगे सब आयाम
घूम-घूम जाते हैं चक्राकार,
उसी तक लौट
समाहित हो जाते हैं।

१५ :

जो कुछ सुन्दर था, प्रेय, काम्य,
जो अच्छा, मँजा-नया था, सत्य-सार,
मैं बीन-बीन कर लाया ।
नैवेद्य चढ़ाया ।
पर यह क्या हुआ ?
सब पड़ा-पड़ा कुम्हलाया, सूख गया, मुरझाया :
कुछ भी तो उस ने हाथ बढ़ा कर नहीं लिया ।

गोपन लज्जा में लिपटा, सहमा स्वर भीतर से आया :
यह सब मन ने किया,
हृदय ने कुछ नहीं दिया,
थाती का नहीं, अपना हो जिया ।
इस लिए आत्मा ने कुछ नहीं छुआ ।

केवल जो अस्पृश्य, गर्ह्य कह
तज आयी मेरे अस्तित्व मात्र की सत्ता,
जिस के भय से त्रस्त, ओढ़ती काली घृणा इयत्ता,
उतना ही, वही हलाहल उस ने लिया ।
और मुझ को वात्सल्य भरा आशिष दे कर !—
ओक भर पिया ।

१६ :

मैं कवि हूँ
द्रष्टा, उन्मेष्टा,
सन्धाता,
अर्थवाह,
मैं कृतव्यय ।

मैं सच लिखता हूँ :
लिख-लिख कर सब
झूठा करता जाता हूँ ।

तू काव्य :
सदा-वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित,
भारहीन, गुरु,
अव्यय ।

तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद, अभ्रान्त,
अनूठा होता जाता है ।

१७ :

न कुछ में से वृत्त यह निकला कि जो फिर
शून्य में जा विलय होगा :
किन्तु वह जिस शून्य को बाँधे हुए है—
उस में एक रूपातीत ठण्डी ज्योति है ।

तब फिर शून्य कैसे है—कहाँ है ?
मुझे फिर आतंक किस का है ?

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को बरजता हूँ ।
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है :
मैं स्वयं
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ ।

१८ :

अन्धकार में चली गयी है
काली रेखा
दूर-दूर पार तक ।

इसी लीक को थामे मैं
बढ़ता आया हूँ
बार-बार द्वार तक :

ठिठक गया हूँ वहाँ :
खोज यह दे सकती है मार तक ।

चलने की है यही प्रतिज्ञा
पहुँच सकूँगा मैं
प्रकाश के पारावार तक;

क्यों चलना यदि पथ है केवल
मेरे अन्धकार से
सब के अन्धकार तक ?

—या कि लांघ कर ही उस को
पहुँचा जावेगा
सब कुछ धारण करने वाली पारमिता करुणा तक—
निर्वैयक्तिक प्यार तक ?

१९ :

उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा दत्तचित्त—
वह काक चोंच से लिखता ही जाता है अविश्राम
पल-छिन, दिन-युग, भय-त्रास, व्याधि-ज्वर,
जरा-मृत्यु,
बनने-मिटने के कल्प, मिलन-बिछुड़न,
गति-निगति-विलय के
अन्तहीन चक्रान्त।

इस धवल शिला पर यह आलोक-स्नात,
उजला ईश्वर-योगी, अक्लान्त शान्त,
अपनी स्थिर, धीर, मन्द स्मिति से वह सारी लिखत
मिटाता जाता है

योगी।
वह स्मिति मेरे भीतर लिख दे :
मिट जाय सभी जो मिटता है।
वह अलम् होगी।

२० :

ढूह की ओट बैठे
बूढ़े से मैं ने कहा :
मुझे मोती चाहिए

उस ने इशारा किया।
पानी में कूदो।
मैं ने कहा : मोती मिलेगा ही, इस का भरोसा क्या ?
उस ने एक मूँठ बालू उठा मेरी ओर कर दी।
मैं ने कहा : इस में से मिलेगा मुझे मोती ?
उस ने एक कंकड़ उठाया और
अनमने भाव से मुझे दे मारा।

मैं ने बड़ा जतन दिखाते हुए उसे बीन लिया
और कहा : यही क्या मोती है—
आप का ?

धीरे-धीरे झुका माथा ऊँचा हुआ,
मुड़ा वह मेरी ओर।
सागर सी उस की आँखें थीं
सदियों की रेती पर
इतिहास की हवाओं की लिखतों सी
नैन-कोरों की झुर्रियां।
बोला वह :
(कैसी एक खोयी हुई हवा उन
बालुओं के ढूहों में से, घासों में से
सर्पिल सी फिसली चली गयी)
'हां :

या कि नहीं क्यों ?
मिट्टी के भीतर
पत्थर था
पत्थर के भीतर
पानी था
पानी के भीतर
मेंढक था
मेंढक के भीतर

अस्थियाँ थीं यानी मिट्टी-पत्थर था,
लहू की धार थी यानी पानी था,
श्वास था यानी हवा थी,
जीव था—यानी मेंढक था।

मोती जो चाहते हो
उस की पहचान अगर यह नहीं
तो और क्या है ?

२१ :

यही, हाँ, यही—
कि और कोई बची नहीं रही
उस मेरी मधु-मद-भरी
रात की निशानी :
एक यह ठीकरे हुआ प्याला
कहता है—
जिसे चाहो तो मान लो कहानी।

और दे भी क्या सकता हूँ हवाला
उस रात का :
या प्रमाण अपनी बात का ?
उस धूममुक्त कम्पहीन
अपने ही ज्वलन के हुताशन के
ताप-शुभ्र केन्द्र-वृत्त में
उस युग-साक्षात् का ?

यों कहीं तो था लेखा :
पर मैं ने जो दिया, जो पाया,
ज़ो पिया, जो गिराया,
जो ढाला, जो छलकाया,
जो नितारा, जो छाना,
जो उतारा, जो चढ़ाया,
जो जोड़ा, जो तोड़ा, जो छोड़ा—
सब का जो कुछ हिसाब रहा, मैं ने देखा
कि उसी यज्ञ-ज्वाला में गिर गया।
और उसी क्षण मुझे लगा कि अरे, मैं तिर गया
—ठीक है, मेरा सिर फिर गया।

मैं अवाक् हूँ, अपलक हूँ।
मेरे पास और कुछ नहीं है
तुम भी यदि चाहो
तो ठुकरा दो :
जानता हूँ कि मैं भी तो ठीकरा हूँ।
और मुझे कहने को क्या हो
जब अपने तईं खरा हूँ ?

२२ :

ओ मूर्ति !
वासनाओं के विलय,
अदम आकांक्षा के विश्राम ।
वस्तु-तत्त्व के बन्धन से छुटकारे के
ओ शिलाभूत संकेत,
ओ आत्म-साक्ष्य के मुकुर,
प्रतीकों के निहितार्थ !
सत्ता-करुणा, युगनद्ध !
ओ मन्त्रों के शक्ति-स्रोत,
साधना के फल के उत्सर्ग
ओ उद्‌गतियों के आयाम !

ओ निश्छाय, अरूप,
अप्रतिम प्रतिमा,
ओ निःश्रेयस्
स्वयंसिद्ध !

२३ :

व्यथा सब की,
निविडतम एकान्त
मेरा ।

कलुष सब का
स्वेच्छया आहूत;
सद्यःधौत अन्तःपूत
बलि मेरी ।

ध्वान्त इस अनसुलझ संसृति के
सकल दौर्बल्य का,
शक्ति तेरे तीक्ष्णतम, निर्मम, अमोघ
प्रकाश-सायक की !

२४ :

उसी एकान्त में घर दो
जहाँ पर सभी आवें :
वही एकान्त सच्चा है
जिसे सब छू सकें ।
मुझ को यही वर दो
उसी एकान्त में घर दो
कि जिस में सभी आवें—
—मैं न आऊँ ।
नहीं मैं छू भी सकूँ जिस को
मुझे ही जो छुए, घेरे समो ले ।
क्योंकि जो मुझ से छुआ जा सका—
मेरे स्पर्श से चटका—
न ही है आसरा, वह छत्र कच्चा है :
वही एकान्त सच्चा है
जिसे छूने में चलूँ तो मैं पलट कर टूट जाऊँ ।
लौट कर फिर वहीं आऊँ
किन्तु पाऊँ
जो उसे छू रहा है वह मैं नहीं हूँ :
सभी हैं वे । सभी : वह भी जो कि इस का बोध
मुझ तक ला सका ।

उसी एकान्त में घर दो—
यही वर दो ।

२५ :

सागर और धरा मिलते थे जहाँ
सन्धि-रेखा पर
मैं बैठा था ।

नहीं जानता
क्यों सागर था मौन ।
क्यों धरा मुखर थी ।

सन्धि-रेख पर बैठा मैं अनमना
देखता था सागर को
किन्तु धरा को सुनता था ।
सागर की लहरों में जो कुछ पढ़ता था
रेती की लहरों पर लिखता जाता था ।

नहीं जानता
क्यों
मैं बैठा था ।

पर वह सब तब था
जब दिन था ।
फिर जब
धरती से उठा हुआ सूरज
तपते-तपते हो जीर्ण
गिरा सागर में—
तब सन्ध्या की तीखी किरण एक
उठ

मुझे विद्ध करती सायक सो
उसी सन्धि-रेखा से बांध
अचानक डूब गयी।
फिर धीरे-धीरे
रात घेरती आयी, फैल गयी
फिर अन्धकार में
मौन हो गयी धरा,
मुखर हो सागर गाने लगा गान।

मुझे और कुछ लखने-सुनने
पढ़ने-लिखने को नहीं रहा :
अपने भीतर
गहरे में मैं ने पहचान लिया
है यही ठीक। सागर ही गाता रहे,
धरा हो मौन,
यही सम्यक् स्थिति है।

यद्यपि क्यों
मैं नहीं जानता।

फिर मैं सपने से जाग गया

हां, जाग गया।
पर क्या यह जगा हुआ मैं
अब से युग-युग
उसी सन्धि-रेखा पर वैसा
किरण-विद्ध ही बंधा रहूँगा ?

२६ :

आँगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन ।
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्हीं में कहीं खो गया भवन ।

कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा-लागन ।

२७ :

दूज का चाँद—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन में
सहमा सा रख दिया गया ।

असाध्य वीणा

असाध्य वीणा

आ गये प्रियंवद ! केशकम्बली ! गुफा-गेह !
राजा ने आसन दिया। कहा :
"कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप।
भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी !"

लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े। लाये असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उस को, हट गये।
सभा की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख, टिक गयीं
प्रियंवद के चेहरे पर।

"यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि-प्रान्तर से
—घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी—
बहुत समय पहले आयी थी।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम :
किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
अति प्राचीन किरीट-तरु से इसे गढ़ा था—
उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कन्धों पर बादल सोते थे,
उस की करि-शुण्डों सी डालें

हिम-वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उस के वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे।
और—सुना है—जड़ उस की जा पहुँची थी पाताल-लोक,
उस की गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था।
उसी किरीटी-तरु से वज्रकीर्ति ने
सारा जीवन इसे गढ़ा :
हठ-साधना यही थी उस साधक की—
वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन लीला।"

राजा रुके साँस लम्बी ले कर फिर बोले :
"मेरे हार गये सब जाने-माने कलावन्त,
सब की विद्या हो गयी अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका।
अब यह असाध्य वीणा ही ख्यात हो गयी।
पर मेरा अब भी है विश्वास
कृच्छ्र-तप वज्रकीर्ति का व्यर्थ नहीं था।
वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी।
इसे जब सच्चा-स्वरसिद्ध गोद में लेगा।
तात ! प्रियंवद ! लो, यह सम्मुख रही तुम्हारे
वज्रकीर्ति की वीणा,
यह मैं, यह रानी, भरी सभा यह :
सब उदग्र, पर्युत्सुक,
जन-मात्र प्रतीक्षमाण !"

केशकम्बली गुफा-गेह ने खोला कम्बल।
धरती पर चुप-चाप बिछाया।
वीणा उस पर रख, पलक मूँद कर, प्राण खींच,
कर के प्रणाम,
अस्पर्श छुअन से छुए तार।

धीरे बोला : "राजन् ! पर मैं तो
कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ—
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी।
वज्रकीर्ति !
प्राचीन किरीटी-तरु !
अभिमन्त्रित वीणा !
ध्यान-मात्र इन का तो गद्‌गद विह्वल कर देने वाला है।"

चुप हो गया प्रियंवद।
सभा भी मौन हो रही।

वाद्य उठा साधक ने गोद रख लिया।
धीरे-धीरे झुक उस पर, तारों पर मस्तक टेक दिया।
सभा चकित थी—अरे, प्रियंवद क्या सोता है ?
केशकम्बली अथवा हो कर पराभूत
झुक गया वाद्य पर ?
वीणा सचमुच क्या है असाध्य ?

पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा—
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को।
कौन प्रियंवद है कि दम्भ कर
इस अभिमन्त्रित कारुवाद्य के सम्मुख आवे ?
कौन बजावे
यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही ?
भूल गया था केशकम्बली राज-सभा को :

कम्बल पर अभिमन्त्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिस में साक्षी के आगे था
जीवित वही किरीटी-तरु
जिस की जड़ वासुकि के फण पर थी आधारित,
जिस के कन्धों पर बादल सोते थे
और कान में जिस के हिमगिरि कहते थे अपने रहस्य।
सम्बोधित कर उस तरु को, करता था
नीरव एकालाप प्रियंवद।

"ओ विशाल तरु!
शत-सहस्र पल्लवन-पतझरों ने जिस का नित रूप सँवारा,
कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी,
दिन भौंरे कर गये गुंजरित,
रातों में झिल्ली ने
अनथक मंगल-गान सुनाये,
साँझ-सवेरे अनगिन
अनचीन्हे खग-कुल की मोद-भरी क्रीडा-काकलि
डाली-डाली को कँपा गयी—
ओ दीर्घकाय!
ओ पूरे झारखण्ड के अग्रज,
तात, सखा, गुरु, आश्रय,
त्राता महच्छाय,
ओ व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियों के
वृन्दगान के मूर्त रूप,
मैं तुझे सुनूँ,
देखूँ, ध्याऊँ
अनिमेष, स्तब्ध, संयत, संयुत, निर्वाक्:
कहाँ साहस पाऊँ
छू सकूँ तुझे!
तेरी काया को छेद, बाँध कर रची गयी वीणा को

किस स्पर्धा से
हाथ करें आघात
छीनने को तारों से
एक चोट में वह संचित संगीत जिसे रचने में
स्वयं न जाने कितनों के स्पन्दित प्राण रच गये !

"नहीं, नहीं ! वीणा यह मेरी गोद रखी है, रहे,
किन्तु मैं ही तो
तेरी गोदी बैठा मोद-भरा बालक हूँ,
ओ तरु-तात ! सँभाल मुझे,
मेरी हर किलक
पुलक में डूब जाय :
मैं सुनूँ,
गुनूँ,
विस्मय से भर आँकूँ
तेरे अनुभव का एक-एक अन्तःस्वर
तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय—
गा तू :
तेरी लय पर मेरी साँसें
भरें, पुरें, रीतें, विश्रान्ति पायें।

"गा तू !
यह वीणा रखी है : तेरा अंग—अपंग !
किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,
रस-विद्,
तू गा :
मेरे अँधियारे अन्तस् में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का—

तू गा, तू गा, तू गा, तू गा!

"हाँ मुझे स्मरण है:
बदली—कौंध—पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पटपट।
घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकना।
चौंके खग-शावक की चिहुँक।
शिलाओं को दुलराते वन-झरने के
द्रुत लहरीले जल का कल-निदान।
कुहरे में छन कर आती
पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।
गड़रिये की अनमनी बाँसुरी।
कठफोड़े का ठेका। फुलसुँघनी की आतुर फुरकन:
ओस-बूँद की ढरकन—इतनी कोमल, तरल, कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार का फूल बन गयी।
भरे शरद् के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि।
कूँजों का क्रेंकार। काँद लम्बी टिट्टिभ की।
पंख-युक्त सायक सी हंस-बलाका।
चीड़-वनों में गन्ध-अन्ध उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट
जल-प्रपात का प्लुत एकस्वर।
झिल्ली-दादुर, कोकिल-चातक की झंकार पुकारों की यति में
संसृति की साँय-साँय।

"हाँ, मुझे स्मरण है:
दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ।
घरघराहट चढ़ती बहिया की।
रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप।
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अररा कर टूट-टूट कर गिरना।

ओले की कर्री चपत।
जमे पाले से तनी कटारी सी सूखी घासों की टूटन।
ऐंठी मिट्टी का स्निग्ध घाम में धीरे-धीरे रिसना।
हिम-तुषार के फाहे धरती के घावों को सहलाते चुप-चाप।
घाटियों में भरती
गिरती चट्टानों की गूँज—
काँपती मन्द्र गूँज—अनुगूँज—साँस खोयी सी,
धीरे-धीरे नीरव।

"मुझे स्मरण है
हरी तलहटी में, छोटे पेड़ों की ओट ताल पर
बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें :
गर्जन, घुर्घुर, चीख, भूँक, हुक़्क़ा, चिचियाहट।
कमल-कुमुद-पत्रों पर चोर-पैर द्रुत धावित
जल-पंछी की चाप।
थाप दादुर की चकित छलाँगों की।
पन्थी के घोड़े की टाप अधीर।
अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की।

"मुझे स्मरण है
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब तकती है ओस-बूँद को
उस क्षण की सहसा चौंकी सी सिहरन।
और दुपहरी में जब
घास-फूल अनदेखे खिल जाते हैं
मौमाखियाँ असंख्य झूमती करती हैं गुंजार—
उस लम्बे विलमे क्षण का तन्द्रालस ठहराव।
और साँझ को
जब तारों की तरल कँपकँपी

स्पर्शहीन झरती है—
मानो नभ में तरल नयन ठिठकी
निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद—
उस सन्धि-निमिष की पुलकन लीयमान।

"मुझे स्मरण है
और चित्र प्रत्येक
स्तब्ध, विजड़ित करता है मुझ को।
सुनता हूँ मैं
पर हर स्वर-कम्पन लेता है मुझ को मुझ से सोख—
वायु सा नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ।....
मुझे स्मरण है—
पर मुझ को मैं भूल गया हूँ :
सुनता हूँ मैं—
पर मैं मुझ से परे, शब्द में लीयमान।

"मैं नहीं, नहीं ! मैं कहीं नहीं !
ओ रे तरु! ओ वन!
ओ स्वर-सँभार !
नाद-मय संसृति !
ओ रस-प्लावन !
मुझे क्षमा कर—भूल अकिंचनता को मेरी—
मुझे ओट दे—ढँक ले—छा ले—
ओ शरण्य !
मेरे गूँगेपन को तेरे सोये स्वर-सागर का ज्वार डुबा ले !
आ, मुझे भुला,
तू उतर वीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा—
अपने खग-कुल को मुखरित कर

अपनी छाया में पले मृगों की चौंकड़ियों को ताल बाँध,
अपने छायातप, वृष्टि-पवन, पल्लव-कुसुमन की लय पर
अपने जीवन-संचय को कर छन्दयुक्त,
अपनी प्रज्ञा को वाणी दे !
तू गा, तू गा—
तू सन्निधि पा—तू खो
तू आ—तू हो—तू गा। तू गा !"
राजा जागे।
समाधिस्थ संगीतकार का हाथ उठा था—
काँपी थीं उँगलियां।
अलस अँगड़ाई ले कर मानो जाग उठी थी वीणा :
किलक उठे थे स्वर-शिशु।
नीरव पद रखता जालिक मायावी
सधे करों से धीरे धीरे धीरे
डाल रहा था जाल हेम-तारों का।

सहसा वीणा झनझना उठी—
संगीतकार की आँखों में ठण्डी पिघली ज्वाला सी झलक गयी—
रोमांच एक बिजली सा सब के तन में दौड़ गया।
अवतरित हुआ संगीत
स्वयम्भू
जिस में सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।

डूब गये सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।

राजा ने अलग सुना :

"जय देवी यशःकाय
वरमाल लिये
गाती थी मंगल-गीत,
दुन्दुभी दूर कहीं बजती थी,
राज-मुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो हो फूल सिरिस का
ईर्ष्या, महदाकांक्षा, द्वेष, चाटुता
सभी पुराने लुगड़े से झर गये, निखर आया था जीवन-कांचन
धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा।

रानी ने अलग सुना :
छँटती बदली में एक कौंध कह गयी—
तुम्हारे ये मणि-माणिक, कण्ठहार, पट-वस्त्र,
मेखला-किंकिणि—
सब अन्धकार के कण हैं ये ! आलोक एक है
प्यार अनन्य ! उसी की
विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को,
थिरक उसी की छाती पर उस में छिप कर सो जाती है
आश्वस्त, सहज विश्वास-भरी।
रानी
उस एक प्यार को साधेगी।

सब ने भी अलग-अलग संगीत सुना।
इस को
वह कृपा-वाक्य था प्रभुओं का—
उस को
आतंक-मुक्ति का आश्वासन :
इस को
वह भरी तिजोरी में सोने की खनक—
उसे

बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुशबू।
किसी एक को नयी वधू की सहमी सी पायल-ध्वनि।
किसी दूसरे को शिशु की किलकारी।
एक किसी को जाल-फँसी मछली की तड़पन—
एक अपर को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।
एक तीसरे को मण्डी की ठेलमठेल, गाहकों की आस्पर्धा भरी
बोलियाँ,

चौथे को मन्दिर की ताल-युक्त घण्टा-ध्वनि।
और पाँचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें
और छठे को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की
अविराम थपक।

बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाप सातवें के लिए—
और आठवें को कुलिया की कटी मेंड़ से बहते जल की छुल-छुल।
इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की—
उसे युद्ध का ढोल :
इसे संझा-गोधूली की लघु टुन-टुन—
उसे प्रलय का डमरू-नाद।
इस को जीवन की पहली अँगड़ाई
पर उस को महाजृम्भ विकराल काल !
सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे—
हो रहे वशंवद, स्तब्ध :
इयत्ता सब की अलग-अलग जागी,
संघीत हुई,
पा गयी विलय।

वीणा फिर मूक हो गयी।

साधु ! साधु !!"

राजा सिंहासन से उतरे—
"रानी ने अर्पित की सतलड़ी माल,

हे स्वरजित् ! धन्य ! धन्य !"

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने डाल कर मुग्धा माँ
हट जाय, दीठ से दुलराती—
उठ खड़ा हुआ ।
बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन,
बोला :
"श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है ।"

नमस्कार कर मुड़ा प्रियंवद केशकम्बली । ले कर कम्बल
गेह-गुफा को चला गया ।
उठ गयी सभा । सब अपने-अपने काम लगे ।
युग पलट गया ।

पुस्तकालय
9566

प्रिय पाठक ! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई ।

भारतीय राजदूतावास
काठमाडौं

प्रथम पंक्तियों की सूची

१. मन्दिर के भीतर वे सब धुले-पुँछे, उघड़े-अवलिप्त ७
२. बना दे, चितेरे ८
३. मतियाया १०
४. अन्धकार था १२
५. जो पास रहे १३
६. तुम १४
७. झील का निर्जन किनारा १५
८. अरे ये उपस्थित १६
९. दूर सागर पार १७
१०. तुम्हारी पलकों का कँपना १८
११. सूने गलियारों की उदासी १९
१२. माँ हम नहीं मानते २०
१३. सूनी सी साँझ एक २१
१४. जिन आँखों को तुम ने गहरा बतलाया था २३
१५. अँधेरे अकेले घर में २४
१६. मैं ने कहा २६
१७. रेत का विस्तार २८
१८. वासना को बाँधने को ३०
१९. यह महाशून्य का शिविर ३३
२०. वन में एक झरना बहता है ३४
२१. सुनता हूँ गान के स्वर ३५
२२. किरण जब मुझ पर झरी ३६
२३. एक चिकना मौन ३७
२४. रात में जागा ३८

२५. हवा कहीं से उठी, बही ३९
२६. ऊपर ही ऊपर ३९
२७. जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है ४१
२८. जो बहुत तरसा-तरसा कर ४२
२९. धुन्ध से ढँकी हुई ४३
३०. तू नहीं कहेगा ? ४५
३१. अरी ओ आत्मा री ४६
३२. अकेली और अकेली ४८
३३. वह धीरे-धीरे आया ४९
३४. जो कुछ सुन्दर था, प्रेय, काम्य ५०
३५. मैं कवि हूँ ५१
३६. न कुछ में से वृत्त यह निकला कि जो फिर ५२
३७. अन्धकार में चली गयी है ५३
३८. उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा दत्त-चित्त ५४
३९. ढूह की ओट बैठे ५५
४०. यही, हाँ, यही ५७
४१. ओ मूर्ति ! ५९
४२. व्यथा सब की ६०
४३. इसी एकान्त में घर दो ६१
४४. सागर और धरा मिलते थे जहाँ ६२
४५. आँगन के पार ६४
४६. दूज का चाँद ६४
४७. आ गये प्रियंवद ! केशकम्बली ! गुफा-गेह ६७

C39.439
अ 98 आं

इस संग्रह तक आते-आते अज्ञेय का काव्य निखार और गहराई के ऐसे उत्कर्ष पर पहुँचा है, जिस में भारतीय चिन्तन-परम्परा की विश्व से संयोजन की क्षमता साकार हो उठी है। इस दृष्टि से यह संग्रह हिन्दी-काव्य की अद्वितीय उपलब्धि है। इस ने यह सिद्ध कर दिया है कि अज्ञेय प्रश्न छेड़ने में ही नहीं उत्तर पाने में भी कुशल हैं, यह ज़रूर है कि ये उत्तर उन्होंने बाहर से नहीं भीतर से पाये हैं। संक्षेप में, 'आँगन के पार द्वार' नयी कविता की ही नहीं, आधुनिक हिन्दी कविता की अत्यन्त प्रांजल और प्रौढ़ उपलब्धि है।

प्रस्तुत है यह चतुर्थ संस्करण।

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक-साहित्य का निर्माण

•

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५